श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

कपिल गीता अध्याय(3.28)

वर्णन करने सांख्य योग का, और देने को ज्ञान ।
गुरु रूप में कपिल मुनि थे, देवहूति शिष्य समान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

तृतीय स्कंध:

॥ अथ अष्टाविं(म्)शोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच

योगस्य लक्षणं(वँ) वक्ष्ये, सबीजस्य नृपात्मज ।
मनो येनैव विधिना, प्रसन्नं(यँ) याति सत्पथम् ॥ 1॥

कपिलभगवान् कहते हैं- माताजी ! अब मैं तुम्हें सबीज(ध्येयस्वरूपके युक्त) योगका लक्षण हूँ, जिसके द्वारा चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न होकर परमात्मा के मार्गमें प्रवृत्त हो जाता है।

स्वधर्माचरणं(म्) शक्त्या, विधर्माच्च निवर्तनम् ।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष, आत्मविच्चरणार्चनम् ॥ 2॥

यथाशक्ति शास्त्रविहित स्वधर्मका पालन करना तथा शास्त्रविरुद्ध आचरणका परित्याग करना, प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहना, आत्मज्ञानियोंके चरणोंकी पूजा करना,

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च, मोक्षधर्मरतिस्तथा ।

मितमेध्यादनं(म्) शश्वद्-विविक्तक्षेमसेवनम् ॥ 3॥

विषयवासनाओंको बढ़ानेवाले कर्मोसे दूर रहना, संसारबन्धनसे छुड़ानेवाले धर्मो में प्रेम करना, पवित्र और परिमित भोजन करना, निरन्तर एकान्त और निर्भय स्थानमें रहना।

अहिं(म्)सा सत्यमस्तेयं(यँ), यावदर्थपरिग्रहः ।

ब्रह्मचर्यं तपः(श्) शौचं(म्), स्वाध्यायः(फ्) पुरुषार्चनम् ॥ 4॥

मन, वाणी और शरीरसे किसी जीवको न सताना, सत्य बोलना, चोरी न करना, आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंका संग्रह न करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, तपस्या करना(धर्मपालनके लिये कष्ट सहना), बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्की पूजा करना,

मौनं(म्) सदाऽऽसनजयः(स्), स्थैर्यं(म्) प्राणजयः(श्) शनैः ।

प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां(वँ), विषयान्मनसा हृदि ॥ 5॥

वाणीका संयम करना, उत्तम आसनोंका अभ्यास करके स्थिरता पूर्वक बैठना धीरे-धीरे प्राणायामके द्वारा श्वासको जीतना, इन्द्रियोंको मनके द्वारा विषयोंसे हटाकर अपने हृदयमें ले जाना।

स्वधिष्ण्यानामेकदेशे, मनसा प्राणधारणम् ।

वैकुण्ठलीलाभिध्यानं(म्), समाधानं(न्) तथाऽऽत्मनः ॥ 6॥

मूलाधार आदि किसी एक केन्द्रमें मनके सहित प्राणों को स्थिर करना, निरन्तर भगवान्की लीलाओंका चिन्तन और चित्तको समाहित करना।

एतैरन्यैश्च पथिभिर्-मनो दुष्टमसत्पथम् ।

बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर् -जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ॥ 7॥

इनसे तथा व्रत-दानादि दूसरे साधनों से भी सावधानीके साथ प्राणोंको जीतकर बुद्धिके द्वारा अपने कुमार्गगामी दुष्ट चित्तको धीर-धीरे एकाग्र करे. परमात्माके ध्यानमें लगावे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, विजितासन आसनम् ।

तस्मिन् स्वस्ति समासीन, ऋजुकायः(स्) समभ्यसेत् ॥ 8॥

पहले आसनको जीते, फिर प्राणायामके अभ्यासके लिये पवित्र देशमें कुश-मृगचर्मादिसे युक्त आसन बिछावे। उसपर शरीरको सीधा और स्थिर रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर अभ्यास करे।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं(म्), पूरकुम्भकरेचकैः ।

प्रतिकूलेन वा चित्तं(यँ), यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ 9॥

आरम्भमें बायें नासिका से पूरक, कुम्भक और रेचक करें, फिर इसके विपरीत दाहिनी नासिका से प्राणायाम करके प्राणके मार्गका शोधन करे- जिससे चित्त स्थिर और निश्चल हो जाय।

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं(ञ्), जितश्वासस्य योगिनः ।

वाय्वग्निभ्यां(यँ) यथा लोहं(न्), ध्मातं(न्) त्यजति वै मलम् ॥ 10॥

जिस प्रकार वायु और अग्निसे तपाया हुआ सोना अपने मलको त्याग देता है, उसी प्रकार जो योगी प्राणवायुको जीत लेता है, उसका मन बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है।

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् ,धारणाभिश्च किल्बिषान् ।

प्रत्याहारेण सं(म्)सर्गान्, ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ 11॥

अतः योगीको उचित है कि प्राणायामसे वात-पित्तादिजनित दोषों को, धारणासे पापोंको, प्रत्याहारसे विषयोंके सम्बन्धको और ध्यानसे भगवद्विमुख करनेवाले राग-द्वेषादि दुर्गुणों को दूर करे।

यदा मनः(स्) स्वं(वँ) विरजं(यँ), योगेन सुसमाहितम् ।

काष्ठां(म्) भगवतो ध्यायेत्-स्वनासाग्रावलोकनः ॥ 12॥

जब योगका अभ्यास करते-करते चित्त निर्मल और एकाग्र होजाय, तब नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर इस प्रकार भगवान्‌की मूर्तिका ध्यान करे।

प्रसन्नवदनाम्भोजं(म्), पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।

नीलोत्पलदलश्यामं(म्), शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ 13॥

भगवान् कामुखकमल आनन्दसे प्रफुल्ल है.नेत्र कमलकोशके समान रतनारे हैं,शरीर नीलकमलदलके समान श्याम है; हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये है।

लसत्पङ्कजकिञ्जल्क-पीतकौशेयवाससम् ।

श्रीवत्सवक्षसं(म्) भ्राजत्-कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥ 14॥

कमलकी केसरके समान पीला रेशमी वस्त्र लहरा रहा है, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिन्ह है और गलेमें कौस्तुभमणि झिलमिला रही है।

मत्तद्विरेफकलया, परीतं(वँ) वनमालया ।

परार्ध्यहारवलय-किरीटाङ्गदनूपुरम् ॥ 15॥

वनमाला चरणों तक लटकी हुई है, जिसके चारों ओर और सुगन्धसे मतवाले होकर मधुर गुंजार कर रहे हैं. अङ्ग-प्रत्यङ्गमें महामूल्य हार, कंकण, किरोट, भुजबन्ध और नूपुर आदि आभूषण विराजमान हैं।

काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं(म्), हृदयाम्भोजविष्टरम् ।

दर्शनीयतमं(म्) शान्तं(म्), मनोनयनवर्धनम् ॥ 16॥

कमरमें करधनीकी लड़ियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही हैं; भक्तोंके हृदयकमल ही उनके आसन हैं, उनका दर्शनीय श्यामसुन्दर स्वरूप अत्यन्त शान्त एवं मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है।

अपीच्यदर्शनं(म्) शश्वत् -सर्वलोकनमस्कृतम् ।

सन्तं(वँ) वयसि कैशोरे, भृत्यानुग्रहकातरम् ॥ 17॥

उनकी अति सुन्दर किशोर अवस्था है, वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आतुर हो रहे हैं। बड़ी मनोहर झाँकी है। भगवान् सदा सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दित हैं।

कीर्तन्यतीर्थयशसं(म्), पुण्यश्लोकयशस्करम् ।

ध्यायेद्देवं(म्) समग्राङ्गं(यँ), यावन्न च्यवते मनः ॥ 18॥

उनका पवित्र यश परम कीर्तनीय है और वे राजा बलि आदि परम यशस्वियोंके भी यशको बढ़ानेवाले हैं। इस प्रकार श्रीनारायणदेवका सम्पूर्ण अङ्गोके सहित तबतक ध्यान करे, जबतक चित्त वहांसे हटे नहीं।

स्थितं(वँ) व्रजन्तमासीनं(म्), शयानं(वँ) वा गुहाशयम् ।

प्रेक्षणीयेहितं(न्) ध्यायेच्-छुद्धभावेन चेतसा ॥ 19॥

भगवान्‌की लीलाएँ बड़ी दर्शनीय है; अतः अपनी रुचि के अनुसार खड़े हुए, चलते हुए बैठे हुए, पौढ़े हुए अथवा अन्तर्यामीरूपमें स्थित हुए उनके स्वरूपका विशुद्ध भावयुक्त चित्तसे चिन्तन करे।

तस्मिंल्(लँ) लब्धपदं(ञ्) चित्तं(म्), सर्वावयवसं(म्)स्थितम् ।

विलक्ष्यैकत्र सं(यँ)युज्या-दङ्गे भगवतो मुनिः ॥ 20॥

इस प्रकार योगी जब यह अच्छी तरह देख ले कि भगवद्विग्रहमें चित्तकी स्थिति हो गयी, तब वह उनके समस्त अङ्गमें लगे हुए चित्तको विशेष रूपसे एक-एक अङ्गमे लगावे।

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं(वँ),

वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।

उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-

ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥ 21॥

भगवान् के चरणकमलोंका ध्यान करना चाहिये। वे वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके मङ्गलमय चिह्नोंसे युक्त. तथा अपने उभरे हुए लाल-लाल शोभामय नखचन्द्र मण्डलकी चन्द्रिकासे ध्यान करनेवालोके हृदयके अज्ञानरूप घोर अन्धकारको दूर कर देते हैं।

यच्छौचनिः(स्)सृतसरित्प्रवरोदकेन,

तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः(श्) शिवोऽभूत् ।

ध्यातुर्मनः(श्)शमलशैलनिसृष्टवज्रं(न्),

ध्यायेच्चिरं(म्) भगवतश्चरणारविन्दम् ॥ 22॥

इन्हींकी धोवनसे नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी प्रकट हुई थीं, जिनके पवित्र जलको मस्तकपर धारण करनेके कारण स्वयं मङ्गलरूप श्रीमहादेवजी और भी अधिक मङ्गलमय हो गये। ये अपना ध्यान करनेवालोंके पापरूप पर्वतोंपर छोड़े हुए इन्द्रके वज्रके समान है। भगवान् के इन चरणकमलोंका चिरकालतक चिन्तन करे।

जानुद्वयं(ञ्) जलजलोचनया जनन्या,

लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः ।

ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्,

सं(ल्ँ)लालितं(म्) हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥ 23॥

भवभयहारी अजन्मा श्रीहरिकी दोनों पिंडलियों एवं घुटनोंका ध्यान करे, जिनको विश्वविधाता ब्रह्माजी की माता सुरवन्दिता कमललोचना लक्ष्मीजी अपनी जाँघोंपर रखकर अपने कान्तिमान् करकिसलयोंकी कान्तिसे लाड़ लड़ाती रहती हैं।

ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमाना-

वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ ।

व्यालम्बि पीतवरवाससि वर्तमान-

काञ्चीकलापपरिरम्भिनितम्बबिम्बम् ॥ 24॥

भगवान्की जाँघोंका ध्यान करे, जो अलसीके फूलके समान नीलवर्ण और बलकी निधि हैं तथा गरुडजीकी पीठपर शोभायमान हैं। भगवान्के नितम्बबिम्बका ध्यान करे, जो एड़ीतक लटके हुए पीताम्बरसे ढका हुआ है और उस पीताम्बरके ऊपर पहनी हुई सुर्वणमयी करधनीकी लड़ियोंको आलिङ्गन कर रहा है।

नाभिह्रदं(म्) भुवनकोशगुहोदरस्थं(यँ),

यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।

व्यूढं(म्) हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य,

ध्यायेद् द्वयं(वँ) विशदहारमयूखगौरम् ॥ 25॥

सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयस्थान भगवान्के उदरदेशमें स्थित नाभिसरोवरका ध्यान करे; इसीमेंसे ब्रह्माजीका आधारभूत सर्वलोकमय कमल प्रकट हुआ है। फिर प्रभुके श्रेष्ठ मरकतमणिसदृश दोनों स्तनोंका चिन्तन करे, जो वक्षःस्थलपर पड़े हुये शुभ्र हारोंकी किरणोंसे गौरवर्ण जान पड़ते हैं।

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः(फ्),

पुं(म्)सां(म्) मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।

कण्ठं(ञ्) च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं(ङ्),

कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥ 26॥

इसके पश्चात् पुरुषोत्तम भगवान्के वक्षःस्थलका ध्यान करे, जो महालक्ष्मीका निवासस्थान और लोगोंके मन एवं नेत्रोंको आनन्द देनेवाला है। फिर सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय भगवान् के गलेका चिन्तन करे, जो मानो कौस्तुभमणिको भी सुशोभित करनेके लिये ही उसे धारण करता है।

बाहूं(म्)श्च मन्दरगिरेः(फ्) परिवर्तनेन,
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः(श्),
शङ्खं(ञ्) च तत्करसरोरुहराजहं(म्)सम् ॥ 27॥

समस्त लोकपालोंकी आश्रयभूता भगवान्की चारों भुजाओंका ध्यान करे, जिनमें धारण किये हुए कङ्कणादि आभूषण समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलकी रगड़से और भी उजले हो गये हैं। इसी प्रकार जिसके तेजको सहन नहीं किया जा सकता, उस सहस्र धारोंवाले सुदर्शनचक्रका तथा उनके कर-कमलमें राजहंसके समान विराजमान शङ्खका चिन्तन करे।

कौमोदकीं(म्) भगवतो दयितां(म्) स्मरेत,
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां(म्) मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां(ञ्),
चैत्यस्य तत्त्वममलं(म्) मणिमस्य कण्ठे ॥ 28॥

फिर विपक्षी वीरोंके रुधिरसे सनी हुई प्रभुकी प्यारी कौमोदकी गदाका, भौरोंके शब्दसे गुञ्जायमान वनमालाका और उनके कण्ठमें सुशोभित सम्पूर्ण जीवोंके निर्मलतत्त्वरूप कौस्तुभमणिका ध्यान करे।

भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः(स्),
सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन,
विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥ 29॥

भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही यहाँ साकाररूप धारण करनेवाले श्रीहरिके मुखकमलका ध्यान करे, जो सुधड़ नासिकासेसुशोभित है और झिलमिलाते हुए मकराकृत कुण्डल हिलनेसे अतिशय प्रकाशमान स्वच्छ कपोलोंके कारण बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है।

यच्छ्रीनिकेतमलिभिः(फ्) परिसेव्यमानं(म्),
भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं(न्),
ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु ॥ 30॥

काली काली घुँघराली अलकावलीसे मण्डित भगवान्‌का मुखमण्डल अपनी छवि के द्वारा भ्रमरोंसे सेवित कमलकोशका भी तिरस्कार कर रहा है और उसके कमलसदृश विशाल एवं चञ्चल नेत्र उस कमलकोशपर उछलते हुए मछलियों के जोड़ेकी शोभाको मात कर रहे हैं। उन्नत भ्रूलताओंसे सुशोभित भगवान् के ऐसे मनोहर मुखारविन्दकी मनमें धारणा करके आलस्यरहित हो उसीका ध्यान करे।

तस्यावलोकमधिकं(ङ्) कृपयातिघोर-

तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।

स्निग्धस्मितानुगुणितं(व्ँ) विपुलप्रसादं(न्),

ध्यायेच्चिरं(व्ँ) विततभावनया गुहायाम् ॥ 31॥

हृदयगुहा चिरकालतक भक्तिभाव से भगवान के नेत्रों चितवनका ध्यान करना चाहिये, जो कृपासे और प्रेमभरी मुस्कानसे क्षण-क्षण अधिकाधिक बढ़ती रहती है, विपुल प्रसादकी वर्षा करती रहती है और भक्तजनों के अत्यन्त घोर तीनों तापोंको शान्त करनेके लिये ही प्रकट हुई है।

हासं(म्) हरेरवनताखिललोकतीव्र-

शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।

सम्मोहनाय रचितं(न्) निजमाययास्य,

भ्रूमण्डलं(म्) मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥ 32॥

श्रीहरिका हास्य प्रणतजनोंके तीव्र-से-तीव्र शोकके अश्रुसागरको सुखा देता है और अत्यन्त उदार है। मुनियोंके हित के लिये कामदेवको मोहित करनेके लिये हो अपनी मायसे श्रीहरिने अपने भ्रूमण्डलको बनाया है उनका ध्यान करना चाहिये।

ध्यानायनं(म्) प्रहसितं(म्) बहुलाधरोष्ठ-

भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।

ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोः(र्)

भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥ 33॥

अत्यन्त प्रेमार्द्रभावसे अपने हृदयमें विराजमान श्रीहरिके खिलखिलाकर हँसनेका ध्यान करे, जो वस्तुतः ध्यानके ही योग्य है तथा जिसमें ऊपर और नीचेके दोनों होठोंकी अत्यधिक अरुण कान्तिके कारण उनके कुन्दकलीके समान शुभ्र छोटे-छोटे दाँतोंपर लालिमा सी प्रतीत होने लगी है। इस प्रकार ध्यानमें तन्मय होकर उनके सिवा किसी अन्य पदार्थको देखनेकी इच्छा न करे।

एवं(म्) हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो,

भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः(फ्) प्रमोदात् ।

औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानस्-

तच्चापि चित्तबडिशं(म्) शनकैर्वियुङ्क्ते ॥ 34॥

इस प्रकारके ध्यानके अभ्याससे साधकका श्रीहरिमें प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्तिसे द्रवित हो जाता है, शरीरमें आनन्दातिरेकके कारण रोमाञ्च होने लगता है, उत्कण्ठाजनित प्रेमाश्रुओं की धारामें वह बारंबार अपने शरीरको नहलाता है और फिर मछली पकड़नेके काँटेके समान श्रीहरिको अपनी ओर आकर्षित करनेके साधनरूप अपने चित्तको भी धीर-धीरे ध्येय वस्तुसे हटा लेता है।

मुक्ताश्रयं(यँ) यर्हि निर्विषयं(वँ) विरक्तं(म्),

निर्वाणमृच्छति मनः(स्) सहसा यथार्चिः ।

आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-

मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥ 35॥

जैसे तेल आदिके चुक जानेपर दीपशिखा अपने कारणरूप तेजस्-तत्त्वमें लीन हो जाती है, वैसे ही आश्रय, विषय और रागसे रहित होकर मन शान्त ब्रह्माकार हो जाता है। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर जीव गुणप्रवाहरूप देहादि उपाधिके निवृत्त हो जानेके कारण ध्याता, ध्येय आदि विभागसे रहित एक अखण्ड परमात्माको ही सर्वत्र अनुगत देखता है।

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या,

तस्मिन्महिम्न्यवसितः(स्) सुखदुःखबाह्ये ।

हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्,

स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥ 36॥

योगाभ्याससे प्राप्त हुई चित्तकी इस अविद्यारहित लयरूप निवृत्तिसे अपनी सुख-दुःखरहित ब्रह्मरूप महिमामें स्थित होकर परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेपर वह योगी जिस सुख-दुःखके भोक्तृत्वको पहले अज्ञानवश अपने स्वरूपमें देखता था,उसे अब अविद्याकृत अहङ्कारमें ही देखता है।

देहं(ञ्) च तं(न्) न चरमः(स्) स्थितमुत्थितं(वँ) वा,

सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।

दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं(वँ),

वासो यथा परिकृतं(म्) मदिरामदान्धः ॥ 37॥

जिस प्रकार मदिराके मदसे मतवाले पुरुषको अपनी कमरपर लपेटे हुए वस्त्रके रहने या गिरनेकी कुछ भी सुधि नहीं रहती, उसी प्रकार चरमावस्थाको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषको भी अपनी देहके बैठने-उठने अथवा दैववश कहीं जाने या लौट आनेके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि वह अपने परमानन्दमय स्वरूपमें स्थित है।

देहोऽपि दैववशगः(ख्) खलु कर्म यावत्,

स्वारम्भकं(म्) प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।

तं(म्) स प्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः(स्),

स्वाप्नं(म्) पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ 38॥

उसका शरीर तो पूर्वजन्मके संस्कारोंके अधीन है, अतः जबतक उसका आरम्भक प्रारब्ध शेष है तबतक वह इन्द्रियोंके सहित जीवित रहता है; किन्तु जिसे समाधिपर्यन्त योगकी स्थिति प्राप्त हो गयी है और जिसने परमात्मतत्त्वको भी भलीभाँति जान लिया है, वह सिद्धपुरुष पुत्र कलत्रादिके सहित इस शरीरको स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले शरीरोंके समान फिर स्वीकार नहीं करता - फिर उसमें अहंता-ममता नहीं करता।

यथा पुत्राच्च वित्ताच्च, पृथङ्मर्त्यः(फ्) प्रतीयते ।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्, देहादेः(फ्) पुरुषस्तथा ॥ 39॥

जिस प्रकार अत्यन्त स्नेहके कारण पुत्र और धनादिमें भी साधारण जीवोंकी आत्मबुद्धि रहती है, किन्तु थोड़ा-सा विचार करनेसे ही वे उनसे स्पष्टतया अलग दिखायी देते हैं, उसी प्रकार जिन्हें यह अपना आत्मा मान बैठा है, उन देहादिसे भी उनका साक्षी पुरुष पृथक् ही है।

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्- धूमाद्वापि स्वसम्भवात् ।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्-यथाग्निः(फ्) पृथगुल्मुकात् ॥ 40॥

भूतेन्द्रियान्तः(ख्)करणात्- प्रधानाज्जीवसं(ञ्)ज्ञितात् ।

आत्मा तथा पृथग् द्रष्टा, भगवान् ब्रह्मसं(ञ्)ज्ञितः ॥ 41॥

जिस प्रकार जलती हुई लकड़ीसे, चिनगारीसे, स्वयं अग्निसे ही प्रकट हुए धूएँसे तथा अग्निरूप मानी जानेवाली उस जलती हुई लकड़ीसे भी अग्नि वास्तवमें पृथक् ही है-उसी प्रकार भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणसे उनका साक्षी आत्मा अलग है तथा जीव कहलानेवाले उस आत्मासे भी ब्रह्म भिन्न है और प्रकृतिसे उसके सञ्चालक पुरुषोत्तम भिन्न हैं।

सर्वभूतेषु चात्मानं(म्), सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षेतानन्यभावेन, भूतेष्विव तदात्मताम् ॥ 42॥

जिस प्रकार देहदृष्टिसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज-चारों प्रकारके प्राणी पञ्चभूतमात्र हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण जीवोंको अनन्यभावसे अनुगत देखे।

स्वयोनिषु यथा ज्योति-रेकं(न्) नाना प्रतीयते ।

योनीनां(ङ्) गुणवैषम्यात्- तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः ॥ 43॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि अपने पृथक् पृथक् आश्रयोंमें उनकी विभिन्नताके कारण भिन्न भिन्न आकारका दिखायी देता है, उसी प्रकार देव-मनुष्यादि शरीरोंमें रहनेवाला एक ही आत्मा अपने आश्रयोंके गुण भेदके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारका भासता है।

तस्मादिमां(म्) स्वां(म्) प्रकृतिं(न्), दैवीं(म्) सदसदात्मिकाम् ।

दुर्विभाव्यां(म्) पराभाव्य, स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ 44॥

अतः भगवान्‌का भक्त जीवके स्वरूपको छिपा देनेवाली कार्यकारणरूपसे परिणामको प्राप्त हुई भगवान्‌की इस अचिन्त्य शक्तिमयी मायाको भगवान्‌की कृपासे ही जीतकर अपने वास्तविक स्वरूप-ब्रह्मरूपमें स्थित होता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्) सं(म्)हितायां(न्)

तृतीयस्कन्धे कापिलेये साधनानुष्ठानं(न्) नामाष्टाविं(म्)शोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥